

## पाठ के निहितार्थ

□ राजाराम भादू

उत्तर-आधुनिकता से अभिहित किये जाने वाले विमर्श में 'पाठ' (टेक्स्ट) बहुत महत्वपूर्ण हो उठा है। हिंदी शब्द 'पाठ' के दो अर्थ हो सकते हैं, एक पाठ्यवस्तु और दूसरा पाठ (रीडिंग)। कुछ उत्तर-आधुनिक चिंतकों के अनुसार ज्ञान वास्तव जगत का पाठ (टेक्स्ट) मात्र है। इस पाठ की व्याख्या भी एक पाठ (रीडिंग) है। कुछ अन्य उत्तर-आधुनिक व्याख्याकार समूची संस्कृति को पाठ और उप-पाठ बताते हैं। दूसरे कुछ चिंतक भाषा को ही वास्तव जगत का पाठ मानते हैं। भाषा वस्तु (ऑब्जेक्ट) को संकेत, संकेतक और संकेतित (साइन, सिग्नीफायर, सिग्नीफिकेन्ट) में परिवर्तित कर देती है। चिंतकों का मानना है कि वास्तव जगत और उसकी भाषिक सृष्टि के बीच एक बड़ा अंतराल रहता है जिसे हमारा कोई भी पाठ (रीडिंग) और व्याख्या पूरी तरह पाठ नहीं सकती। उत्तर-आधुनिक चिंतकों में से कुछ विभिन्न सांस्कृतिक ज्ञान-धाराओं को वृत्तान्त (नैरेटिव) मानते हैं, प्राचीन शास्त्रीय संस्कृतियां उनके लिए महा-वृत्तान्त (मेगा नैरेटिव्स) हैं। देरीदा जैसे चिंतक इन्हीं वृत्तान्तों के विखंडनात्मक पाठ (डिकंस्ट्रक्टिव रीडिंग) की बात करते हैं ताकि इनके वर्चस्व से मुक्ति पायी जा सके। देरीदा के अनुसार इस पाठ में अंतराल के पाठ यानी वास्तव जगत और सांस्कृतिक संरचना के मध्य की रिक्ति (स्पेस) को भी पढ़ने की जरूरत है। इस अंतराल में वे अनके स्वर दबे पड़े हैं जिन्हें अभिव्यक्ति के लिए, एक पाठ्य-संरचना के रूप में निर्मिति के लिए संकेतित अर्थात् भाषाबद्ध नहीं किया गया। यह हाशिये पर खाली पड़े स्थान का पाठ है।

शिक्षा को सांस्कृतिक पुनरुत्पादन भी कहा गया है। लेकिन अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में भी यह अवधारणा ज्ञान के संतरण (नालेज शिफ्टिंग) से आगे नहीं जाती। यह प्रचलित ज्ञान को नयी पीढ़ी में स्थानान्तरित करती है और भाषिक क्षेत्र को प्रसारित करती है। किन्तु इसके सांस्कृतिक आयाम कुछ दूसरी ही तरह काम करते हैं। स्वाभाविक ही ज्ञान की सांस्कृतिक धाराओं में प्रभावशाली सभ्यताओं की जगह ज्यादा होती है। प्रसार क्षेत्र के विस्तार में वर्चस्वशाली संस्कृतियों का प्रभाव फैलता है। इसे पिछले औपनिवेशिक दौर में साफ देख सकते हैं। वर्चस्व की संस्कृति दूसरी संस्कृति धाराओं को या तो हाशिये पर धकेल देती है अन्यथा उन्हें सांस्कृतिक अंतरण (कल्चरल कन्वर्जन) के जरिये अपने में समाहित कर लेती है। हम देखते हैं कि अनेक आदिम संस्कृतियां इस प्रक्रिया में विलुप्त हो चुकी हैं। शिक्षा की पुनरुत्पादन प्रक्रिया में उसके सांस्कृतिक आयाम स्थिर और कठोर पाठ लेकर चलते हैं।

इसके विपरीत, यदि शिक्षा को ज्ञान की निर्मिति की समझ और उसके लिए जरूरी कौशलों का विकास मानकर चलें तो पूर्व प्रचलित पाठों पर निर्भरता स्वतः कम हो जाती है। तब संस्कृति के देशज रूपों के अनुरूप अनेक पाठ रचे जा सकते हैं। शिक्षा का जनतांत्रिक स्वरूप शिक्षा को ज्ञान-निर्मिति की प्रक्रिया मानने में ही सुरक्षित रह सकता है। इस प्रक्रिया में स्थापित पर संदेह करने, पूर्व-प्रचलित पाठों को जांचने, प्रश्न उठाने और अन्वेषण करने के लिए पूरी संभावनाएं और अवसर होते हैं। इसलिए अपनी प्रकृति में जनतांत्रिक यह शिक्षा सिर्फ सच्चे जनतंत्र में ही संभव है।

जबकि शिक्षा की दूसरी पद्धतियां शिक्षा को पूर्व निर्मित संरचनाओं (पाठों) के रूप में देखती हैं। इन संरचनाओं का उपयोग या तो विशिष्ट मतों और धारणाओं को दूसरों पर आरोपित करने के लिए किया जाता है अथवा इनके जरिये दूसरों को स्थापित व्यवस्था के लिए अनुकूलित किया जाता है। यदि शिक्षा में विशिष्ट मत या धारणाओं को शिक्षार्थियों से मनवाना है, तो इस मत या धारणा के संवाहक शिक्षक की सर्वोच्चता स्थापित करनी होगी। इसे अंतिम सत्य के रूप में रखना होगा। दूसरी ओर, यदि शिक्षा का उद्देश्य शिक्षार्थियों को स्थापित व्यवस्था के अनुकूल ढालना है तो सभी पाठ उस व्यवस्था के मत और धारणाओं के प्रचार का काम करते हैं। यहां पाठ का मूल्य क्षरण हो जाता है।

जाहिर है कि शिक्षा-दृष्टि पाठ की प्रयुक्ति और शिक्षण-विधि को भी निर्धारित करती है। यदि मतारोपण किया जा रहा है तो अनुशासन की एक कठोर संहिता से बच्चों को नियंत्रित करना लाजिमी हो जाता है। यहां शिक्षक का दर्जा भी ऊंचा रखना पड़ेगा। यदि अनुकूलन किया जा रहा है तो स्थापित व्यवस्था का हर कोण से महिमागान किया जायेगा। व्यवस्था के प्रति आलोचनात्मक रुख के लिये यहां कोई गुंजाइश नहीं होगी। शिक्षक की स्थिति यहां व्यवस्था के एजेन्ट जैसी हो जाती है। जबकि ज्ञान-सृजन की प्रक्रिया में शिक्षक शिक्षार्थियों के समूह में एक केन्द्रक की भूमिका निभाता है। उस की अवस्थिति बच्चों से बराबरी की होते हुए भी विशिष्ट होती है।

स्कूल में शिक्षक और शिक्षार्थियों के मध्य पाठ (पाठ्यसामग्री) अन्तर्क्रिया के आधार का काम करता है। जैसा कि हमने कहा, मतारोपण ओर अनुकूलन में यह आधार किंचित भिन्न होते हुए प्रमुखता ले लेता है। दूसरी स्थिति में यह सीखने की प्रक्रिया में एक माध्यम का कार्य करता है, सीखने के पाठ्येतर माध्यमों का भी यहां उतना ही महत्व होता है। शिक्षाक्रम और पाठ्यवस्तु शिक्षा के मूल ध्येय का विस्तारित स्वरूप ही हैं। मतारोपण और अनुकूलन में शिक्षा का ध्येय केन्द्रीकृत है, उसकी स्थिति उपयोगिता मूलक है। दूसरी जगह शिक्षा स्वतंत्र रूप ले लेती है और स्वभावतः यह विकेन्द्रित हो जाती है।

यहां हम कह सकते हैं कि शिक्षा के उद्देश्य निर्धारण का दायित्व यदि हम राज्य पर छोड़ते हैं तो राज्य सत्ता की प्रकृति और समाज से उसके रिश्ते महत्वपूर्ण हो जाते हैं। यदि शिक्षा का उद्देश्य समाज के व्यापक उन्नयन, संवाद और सहजीवन की संस्कृति का पोषण और ज्ञान की बहुलवादी धाराओं का उत्कर्ष है तो शिक्षा प्रणाली, शिक्षाक्रम और स्कूलों का जनतांत्रिकरण और विकेन्द्रण आवश्यक है। यह सब समाज के विभिन्न तबकों की व्यापक सहभागिता और सहकार के बिना संभव नहीं है। तभी स्कूल समाज की केन्द्रीय और स्वायत्त इकाई बन सकते हैं। पाठ्यक्रम ज्ञान की सृजनात्मक संभावनाएं खोलने वाले माध्यम के रूप में कार्य कर सकते हैं।

शिक्षक एक उत्प्रेरक की भूमिका निभा सकते हैं अन्यथा समाज द्वितीयक स्थिति में होगा, और शिक्षा की समूची प्रणाली राज्योंमुख होगी या फिर वह किसी अन्य शक्ति केन्द्र को संबोधित होगी। क्या हम भारतीय शिक्षा प्रणाली को इस नजरिये से देख सकते हैं ? ♦